International Journal of Hindi Research
ISSN: 2455-2232, Impact Factor: RJIF 5.22
www.hindijournal.com
Volume 2; Issue 4; July 2016; Page No. 06-08

समकालीन हिन्दी काव्य में वर्णित नगर जीवन

डॉ0 अलका शुक्ला

हिन्दी विभाग मयंक शेखर महाविद्यालय कोरौवा, कानपुर देहात, उत्तर प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

समकालीन काव्य सन् 1960 ई0 के आसपास से अद्यावधि तक रचित वह काव्य है जो वस्तु और शिल्प की दृष्टि से अपने पूर्ववर्ती काव्यान्दोलनों से भिन्न भाव बोध का है। नयी कविता तथा नवगीत के विविध काव्यान्दोलन इसके अन्तर्गत समाविष्ट हैं। समकालीन काव्य में कविता के सभी रूप विद्यमान हैं यथा–समकालीन कविता, नवगीत, समकालीन गीत, हिन्दी ग़ज़ल, लम्बी कविता या प्रबन्ध कविता आदि किन्तु शर्त यह है कि समकालीन काव्य का कथ्य अपने समकालीन परिवेश के यथार्थ चित्रण पर आधारित हो तथा समकालीन मूल्यबोध से अनुप्राणित हो।

समकालीन हिन्दी काव्य में समकालीन समाज, मानवीय स्थितियों एवं सम्बन्धों का विस्तृत विवेचन हुआ है। यह अपने समय का दस्तावेज है तथा इसमें जिस मनुष्य और जिन परिस्थितियों का चित्रण हुआ है वे हमारे आसपास की हैं। समकालीन काव्य भाव, विचार, भाषा एवं शिल्प की दृष्टि से परम्परागत काव्य से भिन्न एवं नवीन मूल्य बोध का काव्य है। विगत चालीस वर्षों की कविता में जीवन मूल्यों के बदलते सन्दर्भों को बड़ी ईमानदारी से अनुभव किया गया है।

समकालीन काव्य में रचनाकारों ने जिस युगीन समाज का वर्णन किया है उसमें नगर जीवन, ग्राम्य जीवन, परिवार का स्वरूप, पारिवारिक संस्कृति एवं मान्यतायें, सामाजिक संगठन, आचार–विचार एवं रीति–रिवाज आदि प्रमुख हैं। समकालीन समाज के शहरी जीवन से कवि अधिक प्रभावित हुआ है। अतः नगरीय जीवन की संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर कवियों ने लेखनी चलाई है।

समकालीन समाज में शहरीकरण की प्रवृत्ति को बहुत बढ़ावा मिला। रोजगारक ी तलाश में ग्रामीण युवा शहरों की ओर भागने लगे, फलतः शहरों का आकार तेजी से फैलने लगा। नगरों एवं शहरों की बस्तियाँ बेतरतीब फैलने लगी, जिसका कारण था शहरी नियोजन का अभाव। ''जिस अनुपात में शहरों की आबादी बढ़ रही है उस अनुपात में जन सुविधायें प्राप्त न हो सकीं। आम जनता जो स्वप्न लेकर शहरों में आई थी वे धीरे–धीरे खण्डित होने लगे। दूषित वातावरण, निम्न जीवन स्तर, रोजगार का अस्थाईपन, जन सुविधाओं का अभाव और अन्य नागरिक सुविधाओं के अभाव में जीवन पशुवत हो गया। आर्थिक मजबूरियों ने परिवार की इकाई को खण्डित कर दिया और संयुक्त परिवार तेजी से बिखरने लगे। पारिवारिक सम्बन्धों में कटुता भर गयी और व्यक्ति अकेला पड़ने लगा।''[1]

समकालीन रचनाकारों ने समाज की इन स्थितियों का वर्णन बड़ी संवेदना के साथ किया है। हिन्दी गज़ल के पुरोधा दुष्यन्त कुमार इस सम्बन्ध में बड़ी संजीदगी के साथ लिखते हैं–

> ''कहाँ तो तय था चिरागां हरेक घर के लिए
> कहाँ चिराग मयस्सर नहीं शहर के लिए
> यहां दरख्तों के साये में धूप लगती है
> चलो यहां से चलें और उम्र भर के लिए।''[2]

नगरों और महानगरों की अनेक समस्याओं का प्रत्यक्ष सम्बन्ध जनसंख्या विस्फोट से है। भारत की जनसंख्या जो आजादी के समय लगभग सैंतीस करोड़ थी आज प्रायः सवा अरब है। इस बढ़ती हुई आबादी के फलस्वरूप आजीविका की खोज में जनसमूह गाँवों से नगरों की ओर अबाध गति से चले जा रहे हैं और नगर मनुष्यों से भर कर उमड़ रहे हैं।

शिक्षा, चिकित्सा के प्रसार और अधिक सुविधापूर्ण जीवन की खोज में भी गांव की युवा पीढ़ी शहरों की ओर आकर्षित हो रही है। गाँवों में खेती के अनिश्चित परिणाम बाढ़ और सूखे की विकट लीला तथा कभी उपलवृष्टि आदि के कारण ग्रामवासी गांवों में न रहकर नगरों, महानगरों में रहना पसन्द करते हैं। शहरी जीवन की चकाचौंध, मनोरंजन के अनेकानेक साधन (सिनेमा आदि), शिक्षा, स्वास्थ्य तथा सबसे महत्वपूर्ण बात आर्थिक सुरक्षा (डकैतों आदि से) के कारण भी अधिकांश सम्पन्न एवं मध्य वर्ग के किसान शहरों में मकान बनवाकर रहने लगे हैं। सन् 1961 ई0 में जहाँ शहर में रहने वालों की संख्या लगभग 8 करोड़ थी वहीं सन् 1975 ई0 में 13.5 करोड़ के आसपास पहुँच गई। सन् 2015 ई0 में यह संख्या लगभग पैतालीस करोड़ तक हो गई है।

नगरों के आसपास सीमित भूमि की समस्या तो है ही, उचित आवास, भोजन, शिक्षा, व्यवसाय, परिवहन, स्वच्छ वातावरण और सुरक्षा का अभाव भी कम नहीं है। नगरों में ऊँची–ऊँची अट्टालिकाएं खड़ी हो गई हैं पर झोपड़पट्टों की भी कमी नहीं है। आलीशान भवनों में आधुनिक सभ्यता और विज्ञान की उपलब्धियों से अत्यन्त आकर्षक जीवन के साथ ही दूषित बस्तियों के वातावरण की सड़ांध और अभाव की मार से दिन–दिन दुर्बल होता जीवन भी बढ़ता गया। एक ओर महानगरीय जीवन अमीर वर्ग के लिए सुख–सुविधा पूर्ण या विलासितापूर्ण अवश्य हुआ है किन्तु दूसरी ओर महानगरीय परिवेश भावी पीढ़ियों के लिए आतंक भी उत्पन्न कर रहा है। आदमी की जान की कीमत घट गई है। मनुष्य पूर्णतः यांत्रिक हो गया है तथा औद्योगीकरण ने प्रतिदिन लाखों टन कार्बन बरसा कर प्राणवायु को अशुद्ध कर दिया है।

आज स्थिति यह है कि कोलकाता जैसे शहर में वायु मण्डल में प्रतिदिन चार सौ टन धूल के कण और लगभग एक सौ पचास टन सल्फर डाई अउक्साइड एवं नाइट्रोजन का मिश्रण होता है। कानपुर जैसे शहर में प्रतिदिन गंगा में साठ लाख गैलन दूषित जल का प्रवेश हो रहा है।

समकालीन काव्य में नगरों के विलासितापूर्ण जीवन, उच्च वर्ग के भव्य रहन–सहन के वर्णनों के साथ ही साथ शहरी संस्कृति के विसंगतियों के चित्रण भी खूब हुए हैं। शहरी जीवन की यांत्रिकता और चारों ओर बढ़ते भय को रेखांकित करते हुए अशोक वाजपेयी लिखते हैं–

> महीनों बाद लौट कर आता हूँ अपने शहर
> और खुदी हुई सड़कें देखकर
> शहर के पार चिल्लाता हूँ – मौत
>
> x x x

लंगड़ाती हुई एक लड़की
हाथ में पुस्तक और कापियाँ दबाये
धीरे–धीरे लौटती है अपने घर की ओर
ऊँची इमारतों और भर्राते टैम्पो के बीच
वह निरन्तर चलती रहती है।[3]

इस प्रकार शहरी जीवन तनावों, घिरावों का जीवन है, चारों ओर मौत का भय है। कहीं भी व्यक्ति सुरक्षित नहीं है। चारों तरफ शोर शराबा है जिससे व्यक्ति पूरी तरह मानसिक विश्राम नहीं कर पाता है। शहरों में व्यक्ति इधर–उधर दौड़–धूप करते रहते हैं ऐसे में मित्र, भाई–चारा, सहयोग और सद्भाव जैसे मूल्य बिखरते जा रहे हैं। नवगीत के सशक्त हस्ताक्षर विनोद श्रीवास्तव अपने इस गीत में शहर की एक बानगी हमारे सामने रखते हैं–

नकाबें पहनते हैं दिन
कि लगता रात पसरी है
जिसे सब स्वर्ग कहते हैं
न जाने कौन नगरी है
गली के मोड़ पर
ठहरे
गली के बीच से
गुजरे
कहीं भी तो शहर की बानगी
हमको नहीं मिलती।[4]

समकालीन कविता के सशक्त कवि लीलाधर जगूड़ी को अब शहर सभ्यता और संस्कृति के केन्द्र नहीं लगते बल्कि आदमी और जानवर की भीड़ से भरे हुए लगते हैं। नगर में उन्हें आदमी की शकल में जानवर अधिक नजर आये हैं। संवेदना से रहित समाज के सुख, दुःख से दूर ऐसे व्यक्ति जो आदमी और पशु के सह–अस्तित्व हैं।

इस तरह मत भागो
कहीं कोई नौकरी पकड़ो
विनाश की बहुत बड़ी पहुंच है
तुम इन्तजार करोगे एक दिन
आदमी जैसी शक्त के लिए तरसोगे।[5]

शहर के ऐश्वर्यपूर्ण जीवन की चकाचौंध से भी कवि वाकिफ है और यह आकर्षण उसे उलझन और षड़यंत्र से भरा हुआ लगता है।

और हां, वह जंगल
जिसके एक–एक पौधे ने दरवाजा खोला था
अब बेहद उलझा हुआ षड़यंत्रपूर्ण
बनिये की लिखावट की तरह बेतरतीब
घटना और सांकेतिक हो गया है।[6]

मनुष्य का अस्तित्व शहर की भीड़ में खो गया है वह स्वयं भीड़ का एक अंग बन गया है जहाँ घर के नाम पर एक–एक कमरे में एक–एक दर्जन व्यक्तियों के परिवार रह रहे हैं, वहीं शहर के पार्क, मन्दिर तथा अन्य सार्वजनिक स्थल भीड़ से अटे पड़े हैं।

फिर भी सब जगह के लिए छटपटाते हैं
बेचारे प्रेमी–युगल
इण्डिया गेट पर उधड़ने को मजबूर हैं
सड़क पर नहाते मजदूर हैं
सीढ़ियों में खोमचे लगते हैं
फुटपाथ पर रसोई घर है।[7]

शहरी जीवन में स्वार्थपरता तथा संकुचित मनोवृत्ति का बोलबाला है, ईमानदारी का अभाव दिखाई देता है। मनुष्य सुविधाभोगी होता जा रहा है। इस सुविधाभोग की प्रवृत्ति ने आदमी को आत्मकेन्द्रित बना दिया है। नवगीत के वरिष्ठ कवि माहेश्वर तिवारी लिखते हैं–

शहर हो गये
सारे गुलमुहर, अमलतास
भीड़ महानगर हो गये

x x x

घर के भीतर की सब आवाजें
एक समाचार हो गईं
धूप में निकल
हम पढ़ने लगे
सड़के अखबार हो गईं
मन के सन्तुलन
इधर–उधर हो गये।[8]

एक ग़ज़ल में भी वे कुछ यूं बयां करते हैं–

अजनबी सा शहर है हमारे लिये
आग का एक घर है हमारे लिये।[9]

नगरों में रहने वाला व्यक्ति वर्षों से रहता हुआ भी अपने पड़ोसी तक को नहीं जानता। एक ही अपार्टमेंट में रहने वाले लोग अपने ऊपर या नीचे रहने वाले पड़ोसी से वर्षों तक नहीं मिल पाते। अधिक अर्जन करने के चक्कर में व्यक्ति मशीन बन गया है। उसके पास अपने परिवार के लिए भी समय नहीं है, बच्चे रविवार या अवकाश के दिनों में ही अपने पिता का चेहरा देख पाते हैं। जीवन की इस भागदौड़ और आपाधापी में जब परिवार या रिश्तेदारों के प्रति हमारी संवेदनाएँ नहीं रह गयी हैं तो प्रकृति और पशु–पक्षियों के प्रति क्या हो सकती है। डॉ0 राकेश शुक्ल अपनी ग़ज़ल में कहते हैं–

युग हुआ चन्दा न देखा और न तारे
आसमां में धूल, धुवां, धुन्ध छाई है।
घोसलें तो दूर चिड़ियां पर न मारेंगी
जालियां मजबूत घर में अब लगाई हैं।[10]

नगरीय समाज में ऐसे लोगों का आधिपत्य है जिनकी संकुचित मनोवृत्ति ने सम्पूर्ण जन–जीवन को विषाक्त कर रखा है। व्यक्ति स्वार्थपरता, छल छद्म से भरा हुआ है। उसकी वाणी में मिठास है किन्तु हृदय में जहर भरा हुआ है। भारत भूषण अग्रवाल इस बात को कविता में कुछ यूं ही व्यक्त करते हैं–

इस महानगर में जहाँ भी जाता हूँ
कुर्सी पर एक सांप को
कुण्डली मारे बैठा पाता हूं
पार्कों की घास पर इन्हें
लहराते देखता हूं
दफ्तरों और रेस्तराओं में
इनकी फुफकारें उठती हैं।[11]

समकालीन हिन्दी काव्य में वर्णित समाज एवं उनकी समान्य विशेषताओं में नगरों के जीवन का सशक्त वर्णन हुआ है। नगर चेतना ने कवि के जीवन को बहुत प्रभावित किया है। अधिकांश समकालीन कवि नगरीय, महानगरीय समाज में रहते हैं इसलिए उनका इस जीवन का अपना अनुभव है। उन्होंने नगर की भीड़, अभाव, आतंक और वैषम्य को स्वयं झेला है फलतः उनके चित्रण में स्वानुभूति गहराई है और उसका तीखापन भी है।

दुष्यन्त कुमार अपनी महानगरीय अनुभूतियों को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं–

तुम्हारे शहर में ये शोर सुन–सुन कर तो लगता है
कि इंसानों के जंगल में कहीं हांका हुआ होगा।
यहाँ तो सिर्फ गूंगे और बहरे लोग बसते हैं
खुदा जाने यहाँ पर किस तरह जलसा हुआ होगा।

x x x x x

इस शहर में वो कोई बारात हो या वारदात
अब किसी भी बात पर खुलती नहीं है खिड़कियाँ।[12]

इस प्रकार समकालीन काव्य में समकालीन नगरीय जीवन के अनेक चित्र भरे पड़े हैं जिनमें मानवीय स्थितियों और सम्बन्धों का विस्तृत विवेचन हुआ है। महानगरीय जनजीवन को प्रत्येक कोण से इन रचनाकारों ने देखा है तथा झुग्गी झोपड़ियों के अन्दर की सिसकियों से लेकर राजमहल के अट्टहास तक का वर्णन समकालीन कवियों ने किया है।

संदर्भ सूची

1. डॉ0 महावीर वत्स, साठोत्तरी कविता में सांस्कृतिक चेतना, पृ0 37
2. दुष्यन्त कुमार, साये में धूप, पृ0 13
3. अशोक वाजपेयी, शहर अब भी सम्भावना है, पृ0 85
4. विनोद श्रीवास्तव, भीड़ में बांसुरी, पृ0 14
5. लीलाधर जगूड़ी, नाटक जारी है, पृ0 15
6. लीलाधर जगूड़ी, नाटक जारी है, पृ0 18
7. भारत भूषण अग्रवाल, एक उठा हुआ हाथ, पृ0 20
8. माहेश्वर तिवारी, हर सिंगार कोई तो हो, पृ0 26
9. माहेश्वर तिवारी, हर सिंगार कोई तो हो, पृ0 86
10. डॉ0 राकेश शुक्ल, जलता रहे दिया, पृ0 96
11. भारत भूषण अग्रवाल, एक उठा हुआ हाथ, पृ0 21
12. दुष्यन्त कुमार, साये में धूप, पृ0 18